राजस्थान के लोक-जीवन में कृषि एवं उनके साधन

डॉ. सूरज राव

कृषि कार्य मानवीय सभ्यता का वह महत्त्वपूर्ण सोपान माना जाता हैं जो मानवीय-समुदायों को स्थायी आवास के लिए प्रेरित करता है। कृषि कार्य अग्नि के अविष्कार के समतुल्य मानवीय बौद्धिक उन्नयन का महत्त्वपूर्ण प्रकल्प माना जा सकता है। विश्व की सभी संस्कृतियों में कृषि कार्य के अनेकानेक प्रकार सहज ही प्राप्य है, क्योंकि अनाज उत्पादन एवं अनाज संग्रहण मानवीय समुदायों के सांस्कृतिक विकास हेतु उठाया गया प्रथम कदम माना जा सकता है क्योंकि अन्न मानवीय-जीवन की मूलभूत आवश्यकता है।

भारतीय उपमहाद्वीप में विकसित, सिन्धु सभ्यता, हड़प्पा सभ्यता, गणेश्वर सभ्यता, आहड़ सभ्यता, गिलुंड सभ्यता आदि मानवीय सभ्यता के विकास के वह प्रतिमान है जो व्यक्ति आदिम अवस्था से मुक्ति के प्रयास में शिकार का त्याग कर, अस्थायी आवासों की स्थापना करता हैं। यह स्थाई आवास की संकल्पना सम्पूर्ण मानवीय सभ्यता की सांस्कृतिक आधारशिला है क्योंकि अन्न संग्रहण के यही अस्थाई स्थान, कृषि कर्म के कारण कालान्तर में स्थायी आवासों में बदलने लगे। यह मानवीय सभ्यता का प्रथम नगरीकरण था, जिस पर कालान्तर में मोहनजोदाड़ो एवं इसके समकक्ष अन्य सुव्यवस्थित आदर्श नगरीय-सभ्यताएं विकसित हो सकी। ''कृषि कार्य एवं पशुपालन का भारतीय जनजातीय संस्कृति की महत्वपूर्ण पहल मानी जाती है।''

कृषि कार्य ई.पू. छह हजार या सात हजार के आस-पास नव पाषाण संस्कृतियों में विकसित होने के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। यह निर्णय करना कठिन है कि पहले कृषि शुरू हुई या पशुपालन, क्योंकि इन दोनों प्रक्रियाओं के कारण ही स्थायी आवास का प्रारम्भ हो सका। कृषि उन्हीं क्षेत्रों में सम्भव थी जहां की जलवायु कृषि कार्य के लिए उपयुक्त थी और वे जंगली घास के जंगल स्वत: विकसित हो गये थे। पशुओं का पालतु वहीं पर बनना सम्भव था, जहाँ पहले ही जंगली जानवर विचरण करते थें। इस कालखण्ड का मानव एवं मानव के समुदाय शिकारी के रूप में जन्मा।[1] इस विचार से स्पष्ट होता है कि घूमन्तु मानव समुदाय ने जलवायु के अनुरूप वह

स्थल चयनित किये जहाँ की जलवायु कृषि कार्य एवं पशुपालन की दृष्टि से पहले से ही उपयुक्त थी। इस प्रकार यह तथ्य उजागर होता है कि कृषि कार्य ही संस्कृति की वह आधारशीला हैं जिसमें मानव ने एक संग्रहण प्रवृति के विकास क्रम में पूर्ण आवासीय नवीन जीवन-दर्शन को विकसित किया। सर्वप्रथम गेहूँ के उत्पादन के साथ मानव सभ्यता के प्रथम सोपान की ओर कदम रखा जो सबसे पहले हिमालय पर्वत शृंखला के पार्श्व और हिन्दूकुश पर्वत की तलहटी में पंजाब में किसी स्थान की ओर तथा वहां से पश्चिम की ओर फैल गया।

इसी कृषि कार्य के परिणामस्वरूप कबीलाई संस्कृति का विकसित होना इतिहास का एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रमाण है जिससे युद्ध एवं विजय का भाव विकसित हुआ।[2] कृषि एवं पशुपालन की दृष्टि से आर्य संस्कृति एक 'कृषक संस्कृति' मानी जाती है। आर्य संस्कृति में अर्थव्यवस्था का मूलाधार पशु-सम्पदा थी, बैलों से हल चलाना एवं शकट खींचने का कार्य किया जाता था। आर्य संस्कृति के प्रतिनिधि ग्रन्थ ऋग्वेद में कृषि कर्म को अति उत्तम एवं विशिष्ठ महत्व देना इस बात का द्योतक है कि कृषि कार्य आर्यों की आधारभूत आवश्यकता बन गया था। सूर्य का प्रकाश सृष्टि का कारक तत्त्व माना जाता है। ऋग्वेद में सूर्य के अक्षय प्रकाश के कारण पृथ्वी को अमृत लोक कहा गया।[3] आर्यजनों का यह विश्वास था कि सूर्य की ऊर्जा से अन्न की खेती होती है।[4] कृषि से जुड़ा एक महत्त्वपूर्ण तथ्य ब्राह्मण ग्रन्थ में प्राप्त होता है कि कृषि से ही आर्यों की पहचान व्रात्य से की जाती थी, जो तत्कालिक हिन्दू समाज से पृथक थे।[5] यहाँ कृषि कार्य से नवीन सामाजिक संदर्भ का उद्घाटित होना आर्य संस्कृति के भौतिक एवं सामाजिक विकास की ओर भी संकेत करता है।

वैदिक संस्कृति में कृषि कार्य साधन एवं तकनीक की दृष्टि से अति उत्तम हो गया था। हल से जोती जाने वाली भूमि *उर्वरा* एवं *क्षेत्र* कहलाती थी। हल में छः, आठ या बारह तक बैल जोड़े जाते थें, अन्न पक जाने पर हंसिये से काटा जाता था, खलियान में इकट्ठा कर *मंडनी* की जाती थी, चलनी या सूप का भी उल्लेख मिलता है। फसल की कटाई करने वाला धान्यकृत कहा जाता था और उस काल में अन्न मापने के साधनों का भी प्रचलन था।[6] कालान्तर में कबीलाई संस्कृति स्थायी संस्कृति में बदली तो कबीलाई राजा 'विशपति' कहा जाने लगा। यह विशपति, कबीला का प्रधान, शक्ति सम्पन्न, तथा राजस्व का धारक माना जाता था। यहां विशपति कृषि

कार्य करने वाला भी बताया गया है, ऋग्वेद में विश द्वारा कृषि करने का प्रमाण मिलता है।[7] ऐसा ही वर्णन अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होता है। विशों में निवास करने वाले लोग कृषि कार्य करते, विविध प्रकार के उत्सव मनाते और निरन्तर अपनी संख्या मे अभिवृद्धि करते।[8] आर्य संस्कृति में कृषि कर्म एक व्यापक उद्योग रहा था, इस कारण कृषि के लिए विविध उपकरणों का निर्माण आम आवश्यकता मानी जाती थी, कृषि कार्य से जुड़े विविध तकनीकी-साधनों का निर्माण एवं उससे जुड़े व्यवसायों की जानकारी प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होती हैं। ऋग्वेद में कहा गया है कि *'' सतो नूनं कवय: संशिसील वासी मिर्याभिरमृताय तक्षय''*। अर्थात् हे श्रेष्ठ जनों आप निश्चतता के साथ वाशी (बसौली) को तीक्ष्ण करो और साधनों का निर्माण करो, इन वाशियों से अमृत तत्त्व की सहज प्राप्ति होगी।[9] यहां कृषि कार्य हेतु उपकरण बनाने की बात आर्य तकनीक की ओर इंगित करती है। आर्यों का विस्तार, कृषि कार्य का विस्तार माना जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण में इसके विस्तार में कृषि के लिए भूमि की आवश्यकता स्पष्ट वर्णित है, जब आर्य संस्कृति गंगा के उपजाऊ प्रदेश तक विकसित हो गई तो वहां धन-धान्य की प्रचुरता होना सहज ही था। कृषि कर्म आर्य-संस्कृति के विकास का मूलाधार माना जा सकता है, क्योंकि कृषि कार्य एवं अन्न उत्पादन ऋषि वाणी में अवतरित होकर, व्यवसाय नहीं हो कर एक पुण्य कार्य बन गया था, जैसाकि *'' अन्नं वै प्राणिनां प्राण:''* अन्न को प्राण माना गया है। वैदिक ऋषि कहता है कि *अन्नं बहुकुर्तीत। तदव्रतम। पृथ्वी वा अन्नं आकाशो अन्नाद। अन्नाद्वै प्रजा प्रजायन्ते।*[10] यहां अन्न उत्पादन को सम्पूर्ण सृष्टि के लिए कल्याणकारी मानना आर्य संस्कृति में कृषि कर्म की पावनता को स्पष्ट उजागर करता है, जहां बिना वर्ग भेद, बिना वर्ण भेद, विशपति से आमजन कृषि कार्य कर समाज को अन्नपूर्ति करते है। यह समाज के उन्नयन हेतु सामूहिक कार्य माना जाता था।

वैदिक संस्कृति भारतवर्ष में प्रस्फुटित वह अतिव्यापक अवधारणा है, जो कालान्तर में विकसित सभी संस्कृतियों का मूलाधार रही है। वैदिक चिन्तन सही अर्थों में मानवता का वह प्रतिमान है, जो मनुष्य के बौद्धिक उन्नयन की सकारात्मक व्याख्या करता है। इस बौद्धिक उन्नयन से भौतिक जगत् के साथ धर्म, अध्यात्म, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल की उच्च तकनीकजन्य संस्कृति विकसित करता है। भारतीय जनमानस चाहें वो किसी भी वर्ग, समुदाय या समाज का हो एक विशिष्ठ सांस्कृतिक संस्कार उसमें प्रतिबिम्बित होता हैं, यहाँ तक कि कालान्तर में आक्रान्ता

बनकर आने वाली असभ्य एवं बर्बर जातियों को भी इस सकारात्मक चिन्तन ने अपने भीतर समायोजित कर लिया। तकनीक एवं व्यवसाय की दृष्टि से भारतीय समाज सदैव विकास की ओर बढ़ता रहा, साथ-साथ नवीन धर्म एवं सम्प्रदायों ने उद्योग को वर्ग-भेद में बांट दिया। कालान्तर में सम्प्रदायों ने उद्योग को भी वर्ग-भेद में बांट दिया। अब व्यापार, शासन, कृषि कार्य सेवा और पौरोहित्यकर्म पर विशेष वर्गों का अधिकार हो गया परन्तु अन्न उत्पादन का कार्य सदा से ही प्रायः अविभाज्य एवं सभी समाजों में समान रूप से व्याप्त रहा। समाज का प्रत्येक वर्ग किसी न किसी रूप से कृषि कार्य से जुड़ा रहा है। भले ही बढ़ई का कार्य एक वर्ग तक सीमित हो गया पर कृषक-समाज का स्वरूप लगभग वही रहा।

कृषि कर्म एवं पर्यावरण-भूगोल का घनिष्ठ सम्बन्ध हमें प्राचीन सभ्यताओं का नदियों के किनारें विकसित होने से ही सामने आता है पर वर्षा का जल और ऋतुओं का बदलना, वनस्पति एवं भूमि की उर्वरकता आदि विशेष महत्व रखते रहें। इस प्रकार कृषि-साधन एवं उपयोग के विविध प्रयोग भी सामने आते हैं। सम्पूर्ण भारतीय लोक जीवन कृषि कार्य से ही विकसित होता है और कृषि, लोक जीवन से ही पल्लवित व पुष्पित होती है और कृषि से विविध समयानुकूल नवीन उपकरणों का विकास लोक के द्वारा किया जाता रहा है। मानवीय सभ्यताओं के इतिहास में शिष्ठ और लोक की परम्परागत धाराएं सदा से प्रचलित रही है। शिष्ठ समाज वह है जो प्रगति के पथ पर निरन्तर गतिमान तथा जीवन को उन्नत बनाने हेतु नवीन अनुसन्धानों के साथ सदा नवीन जीवनशैली को स्वीकार करता है। परम्परागत जीवन मूल्यों को भी नवीन स्वरूप में ढालकर एक विशिष्ठ भाव से उन्हे उत्कृष्ट बनाकर उसे स्वीकार करता है। इस सकारात्मक शोधपरक चिन्तन का उद्भव इस लोक से ही होता है पर वह अपनी विशिष्ठ सांस्कृतिक चेतना को विकसित करता है।

यह माना जाता है कि किसी राष्ट्र की कृषि एवं संस्कृति का परिचय उस राष्ट्र के लोक साहित्य से ही जाना जा सकता है। लोक साहित्य जनजीवन का दर्पण है। इस दर्पण में अनपढ़ जनता की भावनाओं का और दुखः-सुख भरी विविध मनोवृतियों का प्रतिफलन होता है। शास्त्र-सम्मत कला व साहित्य से हमें किसी राष्ट्र की देश और काल विशेष की तात्कालिक समुन्नत संस्कृति का आभास भले ही मिल जाये, परन्तु यह अमुक संस्कृति कैसे पनपी? उसकी मूल विशेषताएं क्या रही? इसका संकेत पाना कठिन है, जबकि लोक साहित्य के द्वारा यह कार्य एकदम सुगम

हो जाता है।[11] लोक में प्रचलित समस्त धारणाएं लोक एवं शिष्ठ संस्कृति से गतिमान होती है। जहां अथर्ववेद के विचारों का धरातल सामान्य जनजीवन है तो वही ऋग्वेद का विशिष्ठ जनजीवन है।[12] दोनों ही ग्रंथ महत्वपूर्ण है, जहां ऋग्वेद लोक का वाहक है तो अथर्ववेद शिष्ठ संस्कृति का संपोषक है। व्यापक रूप में लोक या लोकवार्ता मानवीय जीवन की वह सहज सरल अभिव्यक्तियां है जिसमें उनकी प्रेरणाएं, प्रवृत्तियां, मानस चेतना एवं शरीर-विज्ञान की समस्त चेतनाएं गतिमान रहती हैं। लोक दो प्रकार से मानव जीवन का अंग बनता है। लोकाभिव्यक्ति के तीन भेद दृष्टिगत होते है, यथार्थ में तीन भेद है। पहली **शरीर तोषिणी:** व्यवस्था प्रधान ऐसी अभिव्यक्ति जो जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र के उपयोग में आती है ''भोजन आच्छादन शरण और भोग सम्बन्धी। दूसरी है-**मनस्तोशिणी**, ऐसी अभिव्यक्ति, जो मन को संतोष प्रदान करें, आदिम व्यवस्था में यह व्यवस्था कोटि की अभिव्यक्ति होती थी, तीसरी अभिव्यक्ति **मनोमोदिनी** होती है। यह मनुष्य के मनो-मोद प्रवृति से सम्बन्धदित होती है, पोषण, तोषण और मोदन की लोक अभिव्यक्ति का वाणी रूप लोक साहित्य के अन्तर्गत आता है।[13] इस शरीर तोषिणी अभिव्यक्ति का सम्बन्ध मानवीय लोक जीवन के वह आयाम के व्यवसाय है जिसमें लोक जीवन हैं। इसलिए लोकवार्ता या लोक-विज्ञान में विविध व्यवसायों के साधन एवं प्रयोगों का वर्णन शरीर तोषिणी में होने के साथ कृषक-जीवन, कृषि-साधन एवं कृषि की प्रविधियों का व्यापक उपयोग लोक-जीवन में दृष्टिगत होता है।

लोक जीवन में भी एक साधारण ज्ञान धारण करने वाला कृषक अपने उपयोगी तकनीक का विकास करता है। कृषि-लोक का एक सामूहिक व्यवसाय माना जाता है जिसमें वह अपने विवेक से भूमि चयन, कृषि कार्य, बुआई, कटाई करता है और उसके लिए एक शब्दावली विकसित करता है चाहे वो भूमि की उर्वरकता के लिए हो या उन साधनों के लिए हो जिससे वह सम्पूर्ण कार्य करता है।

राजस्थान ही नहीं अपितु समस्त भारतवर्ष अथवा आर्यजन कृषि जीवन का ही पोषक रहा है। लोक जीवन में उन्ही धारणाओं का व्यावहारिक रूप दृष्टिगत होता है। राजस्थान प्रदेश अपनी भौगोलिक विषमता एवं मरूस्थल एवं पहाड़ी प्रदेशों में बंटा है, जहां बालू से लेकर दोमट मिट्टियों की विविधता रही हैं, यहां शुष्क-प्रदेश भी है तो चम्बल जैसी सदानिरा नदी भी यही चलती है। यही कारण है कि कृषि को लेकर यहां के लोक जीवन में विविध देशी तकनीकों का उपयेाग प्राप्त होता है। कृषि कर्म के

लिए भूमि सबसे पहली आवश्यकता होती है, भूमि को लेकर यहां पर *बांझड़, रूण, ढंढ, धेड, डोहली,* तथा *पणो* जैसी शब्दावली का चयन किया जाता है।[14] *बांझड़,* वह भूमि है, जो उपजाऊ नहीं होती है। *रूण,* तालाब के पिछले भाग की भूमि है, जहां दलदल होता है और पानी सूखने पर यहां कृषि कार्य होता है। *धेड़,* वह भूमि होती है जो धरातल वाली खड्डे जैसी भूमि में स्थित होती है, जहां वर्षा काल में पानी भर जाता है। *पणो,* भी एक मिट्टी का प्रकार है, जो पानी भरने के स्थान पर परत के रूप में उभर जाती है, कृषक इस मिट्टी का उपयोग खाद के रूप में भी करते है और यदि पणो समतल पर होता है तो वहां कृषि कार्य भी करते है। राजस्थानी राज व्यवस्था में *डोहली, सासण,* और खालसा भूमियों के नाम उनके दान एवं राज्य के प्रभुत्त्व के स्वरूप को उजागर करती है।

राजस्थान प्रदेश के मेवाड़ अंचल में तालाबों से कृषि होती थी, वैदिक संस्कृति में पोखर, ह्रद से सिंचाई होती रही, राजस्थान पहाड़ी अंचल में तालाबों का स्वरूप विस्तृत था, जिससे छोटी-छोटी नालियां बनाकर सिंचाई की जाती थी, जिसे मारवाड़ में *मौरी* या *छारी* कहा जाता और तालाब आदि के नीचे की भूमि अथवा पाल में से फूट कर निकले पानी से सिंचाई करते थे, मेवाड़ में इसे *पड़वा,* 'फड़ा' कहा जाता रहा।[15] इसी प्रकार सिंचाई का दूसरा महत्वपूर्ण साधन कुआँ या कूप थे। मारवाड़ या मरूस्थल में पानी गहरा होने के कारण वहां चड़स और लाव से पानी निकाला जाता था। इसी प्रकार लोक जीवन में इनके लिए *ताकल्यों, मांदल्या* शब्द का प्रयोग भी होता था, जो मनुष्य के साथ पशुओं से भी खींचा जाता था।[16] *चड़स* की पूरी एक मौलिक शब्दावली भी लोक प्रचलित रही है जबकि वहां *रहट, अरहट, ढींकली* और *पावटी* से पानी खींचा जाता था और कृषि के लिये उपयोग में लिया जाता था।[17]

लोक जीवन में फसलों को बुवाई को *हलोत* या *हलोतिया* कहा जाता था, यह उत्सव जैसा था, तेजा गायन कृषक वर्ग की अलमस्ती को उजागर करता है। हल के साथ *बीजणी, बिज्या* जैसे शब्द लोक में प्रचलित रहे। हल, *हलाई, उमरा* जैसी शब्दावली लोक जीवन में प्रचलित रही है। खेती बैलों से होती वही मरूस्थल में यह कार्य ऊँटों एवं भैसों के द्वारा भी किया जाता था। हल के लगभग 22 से भी ज्यादा उपकरणों का प्रयोग होता था, यह लोक जीवन के समृद्ध ज्ञान को उजागर करता है। वहीं *लावणी* शब्द कृषि में कार्य में फसल लेने की प्रक्रिया को कहते है। *लावणी*

देशज शब्द है जो फसल काटने हेतु लोक में प्रचलित है।[18]

मानव सभ्यता के इतिहास में लोक जीवन संस्कृति के विकास एवं उद्भव ही प्रारम्भिक अवस्था को अपने भीतर समायोजित रखने की अद्भुत क्षमता रखता है। लोक ही वह व्यवस्था है जहां साधारण मनुष्य अपने साधारण ज्ञान से जीवन उपयोगी या जीवन की कठिनाईयों को सहज, सरल एवं सरस बनाने हेतु लोक तकनीक का उपयोग करता हैं, कालान्तर में उसी तकनीक को शिष्ठ समाज अपने उन्नत प्रौद्योगिकी के आश्रय से विकसित करता है। चाक एवं पहिये का और कालान्तर में सम्पूर्ण भारतवर्ष में मनाये जाने वाले शिष्ठ समाज के सांस्कृतिक उत्सवों के मूल में कृषि कार्य एवं अन्न उत्पादन से रहा है। क्रांतिकारी उद्भव, और कालान्तर में उससे विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया एक सामान्य स्तर से उच्च स्तर पर विकसित होती गतिमान हो रही है।

भारतीय संस्कृति ऋषि-प्रधान संस्कृति ही नहीं अपितु कृषि प्रधान संस्कृति भी है। भारतीय लोक जीवन में कृषि कार्य हमारी सांस्कृतिक पहचान मानी जाती है। यही कारण है कि लोक जीवन के समस्त त्यौहार एवं उत्सवों का सम्बन्ध कृषि से रहा है। कृषि की उपज से जुड़े श्री विश्वकर्मा कर्म देव जागृति, देव विश्राम, लोहड़ी, दीपोत्सव जैसे अनेकानेक त्यौहार का आधार कृषि कार्य ही रहा है। कृषि कर्म से ही हमारे सामाजिक सम्बन्ध संयुक्त परिवार और गौ माता की पूजा पशुधन-पालक विचार उत्पन्न माने तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होनी चाहिए। कृषि कार्य एक सांस्कृतिक परिदृश्य को विकसित करता है, जहां सभी लोक व्यवहार कृषि को ध्यानस्थ रखकर लोक में गतिमान होते रहे हैं।

संदर्भ

1. वातात्मज मिश्र, *प्राचीन भारत का नवीन मूल्यांकन,* मैकग्रो-हिल, एजूकेशन प्राइवेट लिमिटेड, 2007, पृ. 28
2. रामशरण शर्मा, *भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं,* अनुवाद प्रो. पूरण चंद पंत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992, भूमिका, पृ. 20
3. *सूर्य आत्मा जगत स्तस्थुषश्च।- ऋग्वेद*-1/115.2
4. *सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके। - अथर्ववेद*- 8/1.1
5. *पंचविश ब्राह्मण*- 17/1
6. राधाकुमुद मुखर्जी, *हिन्दू सभ्यता,* राजकमल प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड,

1975, पृ. 88
7. *ऋग्वेद*– 10.93.14
8. *अथर्ववेद*– 8.10.24; *पंचविश ब्राह्मण*– 13.5.19
9. *ऋग्वेद*– 10/53/10
10. *तैत्तिरीय उपनिषद्* – श्लोक 9, अनुवाद
11. शशिबाला, *राजस्थानी एवं गुजराती लोक कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन,* पंजाबी–गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, 1988
12. *समाज* (शोध पत्रिका) वर्ष–4, अंक–3, वर्ष 1958, पृ. 446
13. सत्येन्द्र, *लोक साहित्य विज्ञान,* पृ. 16–17, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2006
14. ब्रजमोहन जावलिया, *राजस्थानी लोक जीवन शब्दावली,* प्रथम संस्करण, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2001, पृ. 23
15. वही, पृ. 24
16. वही, पृ. 24
17. वही, पृ. 24
18. वही, पृ. 26

उप कुलसचिव
महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय
अजमेर (राजस्थान)